www.vmission.org
Hindi Section-pdf Resources
Articles on Hinduism & Vedanta,
Commentries on Vedanta texts,
Stories, Poems, Snippits

www.vmission.org
हिन्दी विभाग-पीडीएफ संसाधन
हिन्दु धर्म एवं वेदान्त पर लेख
वेदान्त ग्रन्थों पर टीका
कहानियां, कविताएं, एवं अन्य

भगवान श्री आदि शंकराचार्य रचित

व्याख्याकार
स्वामिनि अमितानन्द सरस्वती

खण्ड - ७

अनुक्रमणिका

श्लोक सं.	विषय	पृष्ठ
५६.	ब्रह्म का स्वरूप	२
५७.	ज्ञान के लिए निषेध लक्षणा प्रयोग	३
५८.	ब्रह्म की आनन्द स्वरूपता	४
५९.	ज्ञान का लक्षण	५
६०.	ब्रह्म की सर्वव्यापकता	६
६१.	ब्रह्म की स्वयंप्रकाशरूपता	७
६२.	ब्रह्म की सर्वव्यापकता का स्वरूप	८
६३.	ब्रह्म में जगत् का आरोपण	९
६४.	तत्त्व के ज्ञान से ही ब्रह्म की सर्वरूपता का भान	१०
६५.	ज्ञानचक्षु के द्वारा ही ब्रह्मदर्शन	११
६६.	आत्मा का श्रवण से ही ज्ञान	१२
६७.	आत्मा स्वयंप्रकाश रूप	१३
६८.	ग्रंथ का उपसंहार	१४-१५

श्लोक - ५६

संगति :- आचार्य श्री ने आत्म ज्ञान का महत्व समझाते हुए पीछे के श्लोकों में विविध प्रकार से ज्ञान की स्तुति की। अब आगे के श्लोक में पुनः ब्रह्म का स्वरूप बताते हैं।

तिर्यगूर्ध्वमधः पूर्वं सच्चिदानन्दमद्वयम्।
अनन्तं नित्यमेकं यत् तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत्॥

अन्वय :- **यत्** - जो, **सत्-चिद्-आनन्दम्** - सत-चिद-आनन्द स्वरूप, **अद्वयम्** - अद्वय, **अनन्तम्** - अनन्त, **नित्यम्** - नित्य, **एकं** - एक (है) **तिर्यक्** - सामने, **उर्ध्वम्** - उपर, **अधः** - नीचे, **पूर्वम्** - पीछे (हैं), **तद्** - उसे, **ब्रह्म** - ब्रह्म, **अवधारयेत्** - जानों।

श्लोकार्थ :- जो सत-चिद-आनन्द स्वरूप है, तथा जो अद्वय, अनन्त, नित्य और एक है और जिससे सब दिशाएं नीचे, उपर और मध्य ओत प्रोत हैं, उसे ही ब्रह्म जानों।

व्याख्या :- स्वयं को ब्रह्मस्वरूप जानने से ही समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि होती है, क्योंकि ब्रह्म को जो जानता है वह ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। उसके लिए अधूरेपन से प्रेरित न कुछ भी अन्य जानने को शेष रहता है, न पाने को शेष रहता है और न ही कुछ भोगने को शेष रहता है।

तिर्यक्-उर्ध्वं-अधः - ब्रह्म सर्वव्यापी तत्त्व है। अतः वह उपर, नीचे, मध्य आदि समस्त दिशाओं में ओत-प्रोत है। जगत् में जो कुछ भी चर व अचर पदार्थ हैं उसमें ब्रह्म की सत्स्वरूपता ही सब में अस्तित्व की तरह से, चित्स्वरूपता चेतनता की तरह तथा अनन्त स्वरूपता ही सुख वा प्रियत्व की तरह व्याप्त है।

पूर्ण-सच्चिदानन्दं-अद्वयम् - ब्रह्म सब में ओत-प्रोत होने के बावजूद जगत की देशादि विषयक सीमाएं उसे सीमित नहीं कर पाती हैं, क्योंकि यह समस्त जगत् उन पर अध्यस्त है। वस्तुतः ब्रह्म अद्वय स्वरूप है, उसके अलावा किसी का अस्तित्व है ही नहीं। उससे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है, जो उसे सीमित कर सके। अतः अद्वय स्वरूप होने के कारण अनन्त है। उनकी अनन्त स्वरूपता देश, काल व वस्तु के दृष्टिकोण से जानी जाती है।

तद्ब्रह्म इति अवधारयेत् - जो ब्रह्म की अद्वय, अनन्त व एक स्वरूपता के प्रति श्रद्धा से युक्त होकर उसे जानने को प्रेरित होता है। उसी के पुरुषार्थ की सिद्धि हो पाती है। ब्रह्म अद्वय स्वरूप है अर्थात् जहां समस्त भोक्ता-भोग्य, साध्य-साधक आदि द्वैत का अभाव होता है। अतः पुरुषार्थ का स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः हम मुक्त, अनन्त व पूर्णतत्त्व ब्रह्मस्वरूप ही है, अज्ञानवशात् ही अपने आपको विपरीत मान कर रखा है। अतः कर्म से नहीं किन्तु ज्ञान से ही उसमें स्थित हुआ जा सकता है। अतः अपने स्वरूप के बारे में ब्रह्मस्वरूपता की श्रद्धा रखते हुए गुरु के श्रीचरणों में बैठकर अपने ज्ञान के द्वारा अपने अज्ञान को ही निवृत्त करना चाहिए। तब ही समस्त पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।

श्लोक – ५७

संगति :- यद्यपि ब्रह्म प्रमाण–निरपेक्ष है, तथापि ब्रह्म को शास्त्र (शब्द) प्रमाण से जाना जा सकता है। जिस भी विषय को किसी भी प्रमाण के माध्यम से जाना जा सके वह वस्तु अपने आपमें परप्रकाश्य, सीमित व जड़ हुआ करती है। अतः शास्त्र ब्रह्म का शब्दों के माध्यम से वर्णन नहीं करते हुए एक स्वतः सिद्ध तत्व को लक्षित मात्र करते हैं, यह तरीका आगे के श्लोक में बताया जा रहा है।

> **अतद्-व्यावृत्तिरूपेण वेदान्तैर्लक्ष्यतेऽद्वयम्।**
> **अखण्डानन्दमेकं यत् तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत्॥**

अन्वयार्थ :- **वेदान्तैः** – वेदान्त शास्त्र द्वारा, **यत्** – जिस, **अद्वयम्** – अद्वय को, **अखण्ड–आनन्दम्** – अखण्ड–आनन्द स्वरूप को, **एकं** – एक तत्त्व को, **अतद्–व्यावृत्ति रूपेण** – निषेध लक्षणा से, **लक्ष्यते** – लक्षित किया जाता है। **तद्** – उसे, **ब्रह्म इति** – ब्रह्म ही है, ऐसा **अवधारयेत्** – निश्चय करें।

श्लोकार्थः– वेदान्त शास्त्र द्वारा जिस अद्वय, अखण्ड–आनन्द स्वरूप एक तत्त्व को निषेध लक्षणा का आश्रय लेते हुए लक्षित किया जाता है। वह निषेध की अवधि स्वरूप तत्त्व ब्रह्म ही है, ऐसा निश्चय करें।

व्याख्या :- **वेदान्तैः लक्ष्यते** – वेदान्त शास्त्र द्वारा विविध शब्दों के माध्यम से ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है। किन्तु यह शब्द अपने आपमें स्वयं ब्रह्मतत्व को प्रकाशित नहीं करते हैं। इन लक्षणाओं को यथावत् ग्रहण नहीं करते हुए उनके उपर विचार करने पर उनका पर्यवसान 'मैं' में ही होता है। यह लक्षणाएं तीन प्रकार की होती है – तटस्थ लक्षणा, स्वरूप लक्षणा तथा अतद् व्यावृत्ति लक्षणा। प्रत्येक लक्षणाओं पर किया हुआ विचार हमें अपने ही स्वरूप का निश्चय दिलाता है। वैसे तो प्रत्येक लक्षणा का स्वरूप निश्चय दिलाने में विशेष स्थान होता है। परन्तु हम 'एकमेव अद्वितीय ब्रह्म, एक अखण्ड सत्ता रूप हैं – इस निश्चय के लिए अपने से पृथक् किसी का भी अस्तित्व होना उचित नहीं है। अतः इसके लिए एक विशेष लक्षणा का प्रयोग किया जाता है, जिसे अतद् व्यावृत्ति लक्षण कहते है।

अतद्व्यावृत्ति रूपेण – अतद् व्यावृत्ति का अर्थ होता है कि न तद् – जो वह नहीं है, उसकी व्यावृत्ति करना अर्थात् निषेध करना। इसके लिए शास्त्र निषेधात्मक शब्दों का प्रयोग करता है। उन शब्द की जब तक सार्थकता सिद्ध नहीं होती तब तक उसके उपर विचार किया जाता है। जैसे **'अद्वयम्'** अर्थात् द्वैत से रहित। इस शब्द के माध्यम से जगत् में जो भी ऐसा है जिसमें दो की सम्भावना तथा अन्य की अपेक्षा रहती है, उन सब (यथा कर्ता–कर्म, ध्याता–ध्येय इत्यादि) को बाधित किया जाता है। इन सबका निषेध हो जाने पर निषेध की अवधि रूप इन सब का अधिष्ठान 'मैं' ही शेष बचता है।

अखण्डानन्दं एकम् – इस प्रकार वेदान्त शास्त्रों द्वारा अनेकविध ऐसी लक्षणाएं प्रयोग की जाती हैं। इनके माध्यम से जो भी लक्षित होता है वह एक अखण्ड आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही है। इस तत्त्व में कोई खण्ड नहीं है कि जहां किसी अन्य के होने की सम्भावना हो। जो अन्य भासित हो रहा है, वह सब उनके उपर आरोपित मात्र है। उनसे अन्य कुछ भी नहीं होने के कारण वह किसी के भी द्वारा देशादि से सीमित नहीं होता तथा न ही उसमें देशादि का अस्तित्व है। अतः वह अनन्त स्वरूप है। इस अनन्त स्वरूपता को ही आनन्द की तरह बताया

जाता है।

तद् ब्रह्मेत्यवधारयेत् - इस प्रकार जो एक है, अखण्ड है, वह आनन्द स्वरूप है वह 'मैं' ही हूं। ऐसा वेदान्त प्रतिपादित लक्षणाओं पर विचार करके निश्चय करना चाहिए।

श्लोक - ५८

संगति :- पिछले श्लोक में बताया कि जो एक है, अखण्ड है, वह आनन्द स्वरूप है वह 'मैं' ही हूं। ऐसा वेदान्त प्रतिपादित लक्षणाओं पर विचार करके निश्चय करना चाहिए। हमारी यह आनन्दस्वरूपता किस प्रकार की है, यह आगे के श्लोक में बताते हैं।

अखण्डानन्दरूपस्य तस्यानन्दलवाश्रिताः।
ब्रह्माद्यास्तारतम्येन भवन्त्यानन्दिनोऽखिलाः॥

अन्वयार्थ :- **ब्रह्मा आद्याः** - ब्रह्मा आदि, अखिलाः - समस्त (देवता), **अखण्डानन्दरूपस्य** - अखण्डानन्द स्वरूप के, **आनन्द-लव-आश्रिताः** - आनन्द के लवलेश पर आश्रित, **तारतम्येन** - अपनी शक्ति के अनुपात्त में, **आनन्दिनः** - आनन्दित, **भवन्ति** - होते है।

श्लोकार्थ :- ब्रह्मा आदि समस्त देवता गण उन अखण्डानन्द स्वरूप ब्रह्म के आनन्द के लवलेश पर ही आश्रित हैं और वे सभी अपनी अपनी शक्ति के अनुपात्त में ही आनन्द का अनुभव करते है।

व्याख्या :- प्रत्येक उपाधिधारी जीव विविध उपभोगों के माध्यम से आनन्द के अनुभूति की इच्छा करता हैं। इसके लिए ही विविध धर्म-अधर्म का आचरण करता है। इन धर्माधर्म रूप कर्म के फल स्वरूप वह विविध परिस्थितियों को प्राप्त करता हैं। जितना पुण्यकर्म का आश्रय लिया जाता है, उसके अनुपात में उसे पुण्यलोक व उत्कृष्ट उपाधियों की प्राप्ति होती है, तथा उसके अनुपात में ही वह आनन्द का अनुभव करता है। कर्म व उपासना के फलस्वरूप प्राप्त आनन्द एक कर्ता-भोक्ता की ही अपेक्षा करता है।

इन विविध उपाधियों में ब्रह्माजी की उपाधि सर्वश्रेष्ठ हुआ करती है। इस उपाधि का आनन्द समस्त उपाधि धारियों में सर्वोत्कृष्ट है। किन्तु यह समस्त पुण्य के प्रभाव से प्राप्त आनन्द की अनुभूति मुक्ति का पर्याय नहीं है। मुक्ति उत्कृष्ट आनन्द के भोग की अवस्था का पर्याय नहीं है।

अखण्डानन्दरूपस्य यह एक अखण्ड आनन्द की अवस्था है, जहां हम अपने आपको आनन्द स्वरूप जान रहे हैं। हम में भोक्ता और भोग्य रूप से कोई खण्ड नहीं है। हम एक अखण्ड सत्ता मात्र है। जहां देश, काल वस्तु आदि के कोई भी, किसी भी प्रकार के भेद नहीं है। जब भी कहीं भोक्ता और भोग्य का भेद होता है, वह आनन्द देश व काल की सीमाओं से बद्ध तथा एक परिस्थिति विशेष पर निर्भर होता है। अतः वह अल्प ही है।

ब्रह्माद्याः तारतम्येन तस्यानन्द लवाश्रिताः इस अल्पता और निर्भरता के कारण ही कहा कि यह समस्त औपाधिक आनन्द अपनी आनन्द स्वरूपता का अंश मात्र है। इसी के लव मात्र पर यह समस्त देवतादि का औपाधिक आनन्द आश्रित है।

भवन्ति आनन्दिनो अखिलाः इतना ही नहीं, समस्त जीव इस आनन्द के मूल स्रोत

स्वरूप तत्त्व के ही अंश पर जीवित रह कर आनन्द का उपभोग करता है।

श्लोक – ५९

संगति :– पिछले श्लोक में ब्रह्म की आनन्द स्वरूपता बताई गई, कि ब्रह्माजी से लेकर समस्त जीव उसी ब्रह्म के आनन्द के लव पर जीवित हैं। अब आगे के श्लोक में ब्रह्म की सर्वव्यापकता बताई जा रही है।

तद्युक्तमखिलं वस्तु व्यवहारस्तदन्वितः।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म क्षीरे सर्पिरिवाखिले॥

अन्वयार्थ :– **अखिलं वस्तु** – सभी वस्तु, **व्यवहारः** – चेष्टाएं, **तद् युक्तम्** – उससे युक्त है, **तस्मात्** – इसलिए, **ब्रह्म** – ब्रह्म, **सर्वगतं** – सर्वत्र है, **इव** – जैसे, **अखिले क्षीरे** – पूरे दूध में, **सर्पिः** – मक्खन ।

श्लोकार्थ :– जगत् में सभी वस्तु तथा सब चेष्टाएं ब्रह्म के कारण सम्भव है। अतः ब्रह्म सब में वैसे ही व्याप्त है, जैसे कि दूध में मक्खन ।

व्याख्या :– जीवभाव के स्तर पर रहने का अभिप्राय है कि स्वयं को कर्ता भोक्ता मात्र समझना। जब भी स्वयं को एक सीमित जीव मात्र समझ लिया जाता है, तब प्रत्येक स्तर पर भेद उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे हम कर्ता बने उसके साथ ही कर्ता, कर्म और क्रिया का भेद होता है। भोक्ता के लिए भोक्ता, भोग्य एवं भोग का भेद। इसी प्रकार प्रत्येक स्तर पर भेद होता है।

जिस समय इस जीवभाव के मिथ्यात्व का निश्चय कर लिया जाय तब यह ज्ञान हो जाता है, कि हम में कर्तृत्व-भोक्तृत्व मिथ्या व कल्पित है। अतः कर्मादि रूप त्रिपुटी भी कल्पना ही है। वस्तुतः जीव का अस्तित्व ब्रह्म की वजह से है। ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र उनकी कोई सत्ता नहीं है अर्थात् जीव ब्रह्म ही है। इस निश्चय के साथ ही यह भी बात दिखाई पड़ जाती है कि यह समस्त नाम-रूपात्मक विलास ब्रह्म में केवल कल्पना मात्र ही है। एक अखण्ड सत्ता के उपर नाम-रूप का आरोपण मात्र हो रहा है। इन समस्त नाम रूपों को ओत प्रोत करता एक ही सूत्र उनके सार की तरह से विराजमान है। जैसे दूध में उसका सारभूत तत्व मक्खन व्याप्त रहता है। वह तत्त्व नाम-रूपात्मक जड़ पदार्थों में सत्ता की तरह से, जीवों में चेतनता की तरह तथा ऐक्य में आनन्द की रूप से अभिव्यक्त होता है।

यह तत्त्व ही समस्त जड़-चेतन को व्याप्त करते हुए उसे सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करता है, यह ही सब का सारभूत है, इसी के कारण समस्त चेष्टाएं हो रही हैं। इस प्रकार जानने पर नाम-रूप के प्रति महत्व-बुद्धि कम होकर विवेकदृष्टि से सब में उन एक मात्र सारभूत तत्त्व का ही भान होता है।

श्लोक – ६०

संगति :– पिछले श्लोक में ब्रह्म की सर्वव्यापकता दिखाई। ब्रह्म समस्त नाम-रूपात्मक जगत् में उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे दूध में मक्खन। ऐसे सर्वव्यापी ब्रह्म का अपना रूप, आकारादि कैसा

होगा, जिससे कि हम उसे ग्रहण कर सकें। इसके समाधान रूप आचार्य श्री ब्रह्म के और भी लक्षण बताते हैं।

अनण्वस्थूलमह्रस्वम् अदीर्घमजमव्ययम्।
अरूपगुणवर्णाख्यं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत्।।

अन्वयार्थ :– **अनणु** – जो न सूक्ष्म, **अस्थूलम्** – न स्थूल, **अह्रस्वम्** – न छोटा, **अदीर्घम्** – न बड़ा है, **अजम्** – अजन्मा, **अव्ययम्** – विकाररहित, **अरूप-गुण-वर्णाख्यं** – रूप, गुण, वर्ण और नाम से रहित है, **तद्** – उसे, **ब्रह्म इति** – ब्रह्म है, ऐसा, **अवधारयेत्** – जानों।

श्लोकार्थ :– जो न सूक्ष्म, न स्थूल, न छोटा, न ही बड़ा है। जो अजन्मा और विकाररहित है। जो रूप, गुण, वर्ण और नाम से रहित है, उसे ही ब्रह्म जानों।

व्याख्या :– ब्रह्म का प्रतिपादन करने में विरोधाभासी लक्षण का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। इसके पीछे एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि, किसी भी विषय का ज्ञान होने के लिए एक स्वाभाविक वृत्ति होती है कि, हम उसे अपनी इन्द्रिय अथवा बुद्धि का विषय बना लें। परन्तु ब्रह्म करणों से ग्राह्य नहीं है। अतः श्रुति ऐसे विरोधी लक्षण का प्रयोग करते हुए हमारी इस स्वाभाविक 'विषयीकृत करने की वृत्ति' को समाप्त करके अपनी तरफ मोड़ने के लिए प्रेरित करती है।

अनणु। आचार्य श्री बताते हैं कि ब्रह्म अनणु है। अर्थात् जो अणु अर्थात सूक्ष्म मात्र नहीं है। यह उसकी सम्पूर्ण परिभाषा नहीं है। एक छोटे से देश में सीमित वस्तु विशेष जीवन का सत्य नहीं है। **अस्थूलम्।** जिसे हम ग्रहण कर सकते हैं, वे सभी इन्द्रिय ग्राह्य स्थूल वस्तुओं को भी शाश्वत न समझें। उसी प्रकार से छोटे और बड़े के बारे में जानना चाहिए। दो विरोधाभासी पदार्थो के अधिष्ठान को लक्षित करने का यह शास्त्रों का तरीका है। समस्त गुणों से परे अधिष्ठान, कोई भी गुण वा आकार धारण कर प्रतिभासिक प्रस्तुति करता रहता है। जैसे जल का अपना कोई आकार नहीं होने पर भी वह जिसमें प्रवेश करता है, उस आकार का वह प्रतीत होता है।

अजमव्ययम। ब्रह्म अजन्मा और अव्यय है। इसमें जन्मादि षड्विकार का अभाव है। महाभूतों में भी कोई आकार नहीं है, किन्तु वे ब्रह्म नहीं है। क्योंकि इन महाभूतों में अजन्मा और अव्यय होना रूप लक्षण सार्थक नहीं होता है। यह लक्षण इन सब के अधिष्ठानभूत तत्त्व में ही सार्थक होता है। जन्मवान् वस्तु अध्यस्त होती है, एवं उसकी सत्ता अजन्मा ब्रह्म से ही होती है। ब्रह्म कालातीत होने के वजह से अव्यय है।

तद्ब्रह्म इत्यवधारयेत। ब्रह्म को जानने के लिए जो इन समस्त देश एवं काल से परिच्छिन्न रूप एवं जन्म आदि से युक्त हैं, तथा जो बुद्धि के विषय बनते है, उन सबका निषेध किया जाता है। इन सब के निषेध करने पर जो भी अवशिष्ट रहता है, वह ही ब्रह्म है। जो बुद्धि का विषय नहीं होते हुए उसका स्वप्रकाश अधिष्ठान है। अर्थात् वह हम ही हैं। इस प्रकार मैं ही ब्रह्म हूं' निश्चय करना चाहिए। निषेध की परमावधि में किसी भी निषेध वाक्यों के प्रयोग की अनावश्यकता है।

श्लोक – ६१

संगति :– पिछले श्लोक में देखा कि 'मैं ही ब्रह्म हूं' इस निश्चय के लिए समस्त 'मैं' से भिन्न का निषेध करके सब के आधार की तरह, निषेध की परमावधि रूप को जाना जाता है। अब आगे के श्लोक में ब्रह्म के और भी लक्षण प्रदान किये जाते है। जिसका पर्यवसान 'मैं' की तरह से होता है।

> **यद्भासा भास्यतेऽर्कादि भास्यैर्यत्तु न भास्यते।**
> **येन सर्वमिदं भाति तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत्॥**

अन्वयार्थ :– **यद्** – जिसके, **भासा** – प्रकाश से, **अर्क–आदि** – सूर्य विगेरे, **भास्यते** – प्रकाशित होते हैं, **तु** – किन्तु, **यत्** – जो, **भास्यैः** – (उसके) प्रकाश से, **न भासते** – प्रकाशित नहीं होता है, **येन** – जिसके द्वारा, **इदं सर्वं** – यह सब, **भाति** – प्रकाशित होता है, **तद्** – उसे, **ब्रह्म इति** – ब्रह्म है, ऐसा, **अवधारयेत्** – जानों।

श्लोकार्थ :– जिसके प्रकाश से सूर्यादि प्रकाशित होते हैं, किन्तु सूर्य के प्रकाश से जो प्रकाशित नहीं होता। जिसके द्वारा सब कुछ प्रकाशित होता है–उसे ही ब्रह्म जानो।

व्याख्या :– समस्त दृश्य जगत को प्रकाशित करने वाला सूर्य है। सूर्य के प्रकाश में सबको हम देख पा रहे हैं। सूर्य के अभाव में चन्द्रमा, अग्नि वा विद्युत रूपा लौकिक प्रकाश का आश्रय लिया जाता है, जो सब को प्रकाशित करता है। किन्तु यह समस्त लौकिक प्रकाश कभी उपलब्ध होता है तथा कभी नहीं भी होता है। इन समस्त लौकिक प्रकाश के भाव व अभाव की स्थिति को हमारी इन्द्रियों के पीछे हमारा मन ही जानता है। यह मन ही अन्तिम प्रकाश है, जिसके प्रकाश में सब कुछ जाना जाता है? विचार करने पर पता लगता है कि मन को भी प्रकाशित करने वाला कोई और प्रकाश है। क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में मन का भान नहीं होता है। उस अभावात्मक स्थिति को जो भी प्रकाशित करता है, वह साक्षी प्रकाश स्वरूप चेतनता है। उसी के प्रकाश में समस्त मन के भाव व अभाव का भान होता है।

इस प्रकार सूर्यादि को प्रकाशित करने वाले हम चेतन तत्त्व हैं। यह हम ही मन आदि करणों को तथा सूर्यादि देवों को सत्ता–स्फूर्ति प्रदान करते हैं। जैसे बिजली वह शक्ति है जो बल्ब में प्रकाश उत्पन्न करती है, और उस प्रकाश से बाकी समस्त दृश्य वस्तुएं प्रकाशित होती है। किन्तु बल्ब का प्रकाश 'बिजली' को कभी भी प्रकाशित नहीं कर सकता है।

आचार्य श्री बताते हैं कि इसे ही ब्रह्म जानें, जो सब को सत्ता–स्फूर्ति प्रदान करने के द्वारा प्रकाशित करता है किन्तु जिसे और कोई प्रकाशित नहीं कर पाता। यह स्वयं प्रकाश स्वरूप चेतन तत्त्व, सब का प्रकाशक यहां हमारी वास्तविकता 'मैं' की तरह से ही विद्यमान है। यह ही हम सबका अात्म स्वरूप ब्रह्म है।

श्लोक – ६२

संगति :– पिछले श्लोक में देखा कि ब्रह्म सब का सत्ता–स्फूर्ति प्रदायक व सब का प्रकाशक स्वयं प्रकाश स्वरूप चेतन तत्त्व है। यह ही हम सब के आत्म स्वरूप ब्रह्म है। हम ही सब की आत्मा की तरह कण कण में व्याप्त है। इस व्याप्ति का स्वरूप क्या है यह बात आचार्य श्री

आगे के श्लोक में बताते हैं।

स्वयमन्तर्बहिर्व्याप्य भासयन्नखिलं जगत्।
ब्रह्म प्रकाशते वह्नि प्रतप्तायसपिण्डवत्॥

अन्वयार्थ :- **ब्रह्म** - ब्रह्म, **अखिलं** - सम्पूर्ण, **जगत्** - जगत् के, **बहिः** - बाहर, **अन्तर्** - भीतर, **भासयन्** - प्रकाशित करता हुआ, **व्याप्य** - व्याप्त होकर, **स्वयं** - स्वयं, **प्रकाशते** - प्रकाशित होता है, **प्रतप्त-आयस-पिण्डवत्** - तपे हुए लोहे के गोले में अग्नि के समान।

श्लोकार्थ :- ब्रह्म सम्पूर्ण जगत्के भीतर और बाहर व्याप्त होकर स्वयं ऐसे ही प्रकाशित होता है जैसे कि तपे हुए लोहे के गोले में अग्नि।

व्याख्या :- जैसे सूर्य का प्रकाश समस्त सृष्टि मे व्याप्त होकर सब को प्रकाशित करता है, वैसे ही सब के प्रकाशक परमात्मा भी सर्वत्र व्याप्त होने चाहिए। वे सर्वव्यापी है। सृष्टि के इन समस्त नामरूपात्मक पदार्थों में, जड़ चेतन रूप सभी पदार्थों के अन्तर-बाहर, सर्वत्र व्याप्त है। परमात्मा सब में ही व्याप्त होकर नामरूप के माध्यम से अभिव्यक्त हो रहे हैं। समस्त चेतन पदार्थों में उनकी अभिव्यक्ति मैं की तरह से होती है। जड़ पदार्थों में भी वह व्याप्त है पर हमें उनका इन लौकिक करणों से भान नहीं हो पा रहा है। उसके लिए विवेक चक्षु की आवश्यकता होती है।

जैसे लोहे के पिण्ड को अग्नि में रखा जाय तो अग्नि लोहे के अन्तर-बाहर उपर-नीचे सर्वत्र व्याप्त होकर रहती है। लोहे का पिण्ड अग्नि की वजह से लाल रंग का तथा गरम अनुभव होता है। लोहे के उस पिण्ड में अग्नि व्याप्त है यह जानने के लिए विवेक का आश्रय लिया जाता है कि जो आकार है वह लोहे के पिण्ड का है तथा जो उष्णता एवं लालिमा है वह अग्नि की है जो कि लोहे में सर्वत्र व्याप्त है। वैसे ही यहां भी विवेक की आवश्यकता है।

जगत् नाम-रूप का विलास है। यह समस्त नाम-रूप माया का कार्य होने की वजह से उनकी अपने आप में कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होते हुए वह ब्रह्म के उपर ही आश्रित है। इन समस्त नाम व रूप का अस्तित्व है जो कि हमें भान हो रहा है, तथा उनकी उपयोगिता की दृष्टि से उनका प्रियत्व भी है। उसमें यह जो अस्तिता, भातिता और प्रियत्व दीख रहा है, वह ब्रह्म का लक्षण है। इस तरह से विवेक दृष्टि से ब्रह्म की व्यापकता का निश्चय किया जाना चाहिए। वैसे ही अपने बारे में भी जो अस्मि, भामि, प्रियत्व है वह ब्रह्म के लक्षण है। ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। उनकी सच्चिदानन्द स्वरूपता ही दृश्य नाम-रूपात्मक जगत में अस्ति, भाति, प्रियता की तरह से तथा दृष्टा में अस्मि, भामि, प्रिय की तरह से भान हो रही है। यदि इन सब से अस्ति अर्थात् सत्ता को निकाल दिया जाय तो नाम-रूप का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता। इस प्रकार ब्रह्म सब के अधिष्ठानभूत तत्त्व सब में सत्ता की तरह से ओत-प्रोत है, तथा उसकी वजह से ही समस्त जगत का होना है। किन्तु यह दृष्टि तब ही सम्भव हो पाती है कि जब पहले सब नाम-रूपात्मक जगत को माया के कार्य रूप जानकर उसके मिथ्यात्व का निश्चय करके अधिष्ठानभूत तत्व का अच्छी तरह से निश्चय कर लिया जाय।

श्लोक - ६३

संगति :- पिछले श्लोक में देखा कि ब्रह्म समस्त जगत् में भीतर बाहर सर्वत्र उसी प्रकार से व्याप्त है जैसे लोहे के गोले में अग्नि। तो प्रश्न होता है कि यदि वे कण कण में व्याप्त है तो

क्या ब्रह्म भी लोहे से अग्नि जिस प्रकार से पृथक् होती है, उसी तरह जगत से अलग है? यदि ऐसा है तो ब्रह्म की पूर्णस्वरूपता नहीं रह पाएगी। इसका समाधान रूप आचार्यश्री आगे के श्लोक में बताते हैं।

जगद्विलक्षणं ब्रह्म ब्रह्मणोऽन्यन्न विद्यते।
ब्रह्मान्यद्भाति चेत् मिथ्या यथा मरुमरीचिका।।

अन्वयार्थ :- **ब्रह्म** - ब्रह्म, **जगत्-विलक्षणं** - जगत् से विलक्षण है, **ब्रह्मणः** - ब्रह्म से, **अन्यद्** - भिन्न, **न विद्यते** - कुछ भी नहीं है, **चेद्** - यदि, **ब्रह्म-अन्यद्** - ब्रह्म से भिन्न, **भाति** - प्रतीत होता है, **मिथ्या** - मिथ्या है, **यथा** - जैसे, **मरुमरीचिका** - मरुमरीचिका।

श्लोकार्थ :- ब्रह्म सम्पूर्ण जगत्से विलक्षण है, तथा यहां ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है। यदि ब्रह्म से भिन्न कुछ प्रतीत भी हो रहा है तो वह मरुमरीचिका के समान मिथ्या ही है।

व्याख्या :- जगद्विलक्षणं ब्रह्म- मन्द अन्धकार में रस्सी में दिखने वाले सांप, और रस्सी में बहुत बड़ा भेद है। रस्सी सत्य है, तथा सांप भ्रान्ति। रस्सी अधिष्ठान रूप है, सांप उस पर आरोपित है। रस्सी को होने के लिए सांप का दिखना आवश्यक नहीं है। किन्तु सांप रूपी भ्रम को होने के लिए आश्रय रूप रस्सी की आवश्यकता है। उसी प्रकार अधिष्ठान रूप ब्रह्म में प्रतीत होने वाले जगत् और ब्रह्म में भी बहुत विलक्षणता है, कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। ब्रह्म अधिष्ठान रूप है, जगत् उन पर आरोपित है। ब्रह्म का अस्तित्व जगत् पर निर्भर नहीं है, किन्तु जगत् के होने के लिए ब्रह्म रूप अधिष्ठान की अपेक्षा है। इस तरह ब्रह्म इन समस्त जगत् से अत्यन्त विलक्षण है।

ब्रह्मणोऽन्यत् न किंचन- जैसे जहां पर सर्प दिख रहा है वहां पर रस्सी के अलावा कुछ भी नहीं है। किन्तु सर्प भी रस्सी ही है। उसी प्रकार जगत् ब्रह्म के उपर आरोपित है इसलिए यहां पर ब्रह्म के अलावा कुछ भी नहीं है। जिस समय अपनी नाम-रूपात्मक उपाधियां तथा उसकी वजह से प्रतीत होने वाले इस जीव समेत जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय कर के सत्य को जान लिया जाय तब यह ज्ञात होता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है। जैसे एक नाम-रूप की सीमाओं में बद्ध लहर के नाम-रूप के बारे में यह निश्चय कर लिया जाय कि रूप एक काल विशेष में उत्पन्न हुआ है, कुछ क्षण दिखता है और काल विशेष में समाप्त हो जाता है। इसलिए यह मिथ्या है। नाम-रूप के समाप्त होने पर भी जो समाप्त नहीं होता है, वह जल तत्त्व ही सत्य है। तब यह ज्ञान हो जाता है कि समस्त लहरें जल मात्र ही है, जल के अलावा अन्य कुछ भी नहीं है। ठीक उसी प्रकार ब्रह्म के बारे में निश्चय हो जाता है कि हम भी ब्रह्म है तथा जो कुछ भी दिख रहा है वह सब ब्रह्म ही है।

ब्रह्मान्यद् भाति चेत् मिथ्या- यदि ब्रह्म से भिन्न किसी भी अन्य के होने की कल्पना होती है तो अभी जगत् के मिथ्यात्व का निश्चय और अपनी ब्रह्म स्वरूपता का निश्चय नहीं हुआ है। अतः तब तक विचार करना चाहिए कि जब तक अपनी दृष्टि में अपने स्वस्वरूप ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य की सत्ता ही न रह जाय। क्योंकि ब्रह्म से पृथक् कुछ है ही नहीं, यदि कुछ प्रतीत हो रहा हो तो वह सब मृग जल की तरह प्रतीति मात्र ही है।

श्लोक – ६४

संगति :– पिछले श्लोक में देखा कि ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् से विलक्षण है, तथा यहां ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है। यदि ब्रह्म से भिन्न कुछ प्रतीत भी हो रहा है, तो वह मरुमरीचिका के समान मिथ्या ही है। यह मिथ्या जगत् भी ब्रह्म का ही विलास रूप है – इसे आचार्यश्री आगे के श्लोक में बताते हैं।

दृश्यते श्रूयते यद्यद् ब्रह्मणोऽन्यन्न तद्भवेत्।
तत्त्वज्ञानाच्च तद्ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम्॥

अन्वयार्थ :– **यद्-यद्** – जो जो, **दृश्यते** – दीखता है, **श्रूयते** – सुनने में आता है, **तद्** – वह, **ब्रह्मणः** – ब्रह्म से, **अन्यद्** – भिन्न, **न भवेत्** – नहीं हैं, **तत्त्वज्ञानात्** – तत्त्वज्ञान हो जाने पर, **सत्-चिद्-आनन्दम्** – सच्चिदानन्द स्वरूप, **अद्वयम्** – अद्वय, **ब्रह्म** – ब्रह्म का (भान होने लगता है।)

श्लोकार्थ :– जगत्में जो कुछ भी देखने, सुनने में आता है, वह सब ब्रह्म ही है। उनके अलावा कुछ है ही नहीं। तत्त्वज्ञान हो जाने पर जगत्के अद्वय, सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मत्व का भान होने लगता है।

व्याख्या :– तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के सर्व प्रथम सोपान पर यह निश्चय किया जाना आवश्यक है कि यह जगत मिथ्या है। मरुमरीचिका के समान है। जब तक जगत के मिथ्यात्व का निश्चय नहीं होता तब तक अपनी ब्रह्म स्वरूपता का ज्ञान होना असम्भव है।

जगत अर्थात् नाम-रूप का विलास। इसका मिथ्या होने का अभिप्राय ठीक उसी तरह से है जैसे कि मिट्टी में प्रतीत होने वाला नाम-रूपात्मक 'घड़ा' मिथ्या होता है। जब तक हमारी दृष्टि में नाम रूप सत्य होते हैं तब वह अति महत्व का विषय बन जाता है। जिससे कि हमारी दृष्टि उस पर ही अटक जाती है। सच्चाई को देख ही नहीं पाती है, मानो कि यह नाम-रूप एक कोश तुल्य बन जाते हैं। जिस समय नाम रूप के प्रति महत्व बुद्धि समाप्त होती है और यह जान जाते हैं कि घड़े के नाम-रूप का होना मिट्टी की वजह से है। जिस समय घड़ा नहीं था-उस समय भी मिट्टी थी, जिस समय घड़ा अस्तित्व में आया उस समय भी मिट्टी का अस्तित्व है। जिस समय घड़े का नाश हो जाएगा उस समय भी मिट्टी मात्र ही रहती है। एक घड़े का होना जिसकी वजह से है, वह मिट्टी सत्य है। इसे जान लेना ही घड़े के मिथ्यात्व का निश्चय कर के उसके सत्य को जानना है। जो इस सत्य को जान लेता है, वह मिट्टी के बने अन्य पदार्थों के बारे में यह निश्चय कर लेता है कि वह सब मिट्टी मात्र ही है, उससे भिन्न कुछ भी नही है। ठीक वैसे ही जब नाम-रूपात्मक जगत के मिथ्यात्व का निश्चय कर के अपने सत्य स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। उसे ही यह बात दिखाई पड़ जाती है कि जो कुछ भी दृश्य पदार्थों के विलास रूप जगत है-वह ब्रह्म ही है। सच्चिदानन्द ब्रह्म की सत्स्वरूपता ही यहां सत्ता रूप से, चेतनता ही अनेकों जीवों की तरह से, तथा आनन्द स्वरूपता ही विषयों में आनन्द की तरह से भासित हो रही है। ब्रह्म एक मात्र अद्वय सत्ता है, उससे अन्य किसी का अस्तित्व ही नहीं है। इस प्रकार से विवेक की दृष्टि से सब की ब्रह्म स्वरूपता का निश्चय हो जाता है।

श्लोक - ६५

संगति :- पिछले श्लोक में देखा कि जगत में व्यक्त-अव्यक्त जो कुछ भी है, वह सब सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही है। इससे भिन्न यदि कुछ कल्पना होती है तो मृगजल के समान मिथ्या है। तो प्रश्न होता है कि ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है तो उसका हमें भान क्यों नहीं होता। इसके लिए आचार्यश्री आगे के श्लोक में बताते हैं।

सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्ष्यते।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षते भास्वन्तं भानुमन्धवत्॥

अन्वयार्थ :- **सर्वगं** - सर्वव्यापक, और **सत्-चित् आत्मानं** - सच्चित स्वरूप आत्मा को, **ज्ञानचक्षुः** - ज्ञान की दृष्टि, **निरीक्ष्यते** - देख पाता हैं, **अज्ञान-चक्षुः** - अज्ञान आवरित दृष्टि, **न ईक्षते** - नहीं देख सकती है, **अन्धवत्** - जैसे अन्धा व्यक्ति, **भास्वन्तं** - प्रकाशित, **भानुम्** - सूर्य को......।

श्लोकार्थं :- यद्यपि आत्मा सर्वव्यापक और सच्चित स्वरूप है, किन्तु इसका साक्षात्कार ज्ञानचक्षु द्वारा ही सम्भव है। जिसकी दृष्टि अज्ञान से आच्छादित है, वह इसको नहीं देख पाता, जैसे अन्धा व्यक्ति प्रकाशित सूर्य को नहीं देख पाता।

व्याख्या :- श्रुति और युक्ति प्रमाण से इस बात का निश्चय होता है कि जगत् के कण कण में सच्चित् स्वरूप परमात्मा ही व्याप्त हो रहे हैं। इसके बगैर किसी का भी अस्तित्व सम्भव नहीं है। यद्यपि परमात्मा सर्वत्र विराजमान हैं, किन्तु हमें इन चर्मचक्षु से नहीं दीख सकते हैं। समस्त इन्द्रियां इस पंचमहाभूत के बने स्थूल जगत् को ग्रहण करने के लिए ही होती हैं। इसके द्वारा परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता है। एवं मन और इन्द्रियां अपने से पृथक् दृश्य जगत को ही अनुभव करती हैं। परमात्मा अपने से पृथक् कोई दृश्य विषय नहीं है, जिसे हम अपने करणों से ग्रहण कर सकें। जैसे सूर्य को देखने के लिए इन चक्षुओं की ही आवश्यकता होती है, वैसे सर्वव्यापी परमात्मा को देखने के लिए ज्ञानचक्षु की आवश्यकता होती है। अन्धा व्यक्ति सूर्य के प्रकाशित होने पर भी उसे नहीं देख पाता है।

ज्ञानचक्षु अर्थात् विवेक की दृष्टि। जिस साधक के मन में परमात्मा के प्रति भक्ति है। जिन्होंने कर्म के क्षेत्र को प्रभु की पूजा रूप बना दिया है। इसके फलस्वरूप मन वैराग्य से युक्त शुद्ध हुआ है। ऐसे शुद्ध मन में परमात्मा विषयक जिज्ञासा का उदय होता है। वह साधक गुरु के श्रीचरणों में बैठ़कर श्रद्धापूर्वक शास्त्रों का जब श्रवणादि करता है, तो उसका अज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है। बुद्धि में ब्रह्म और जगत (आत्म-अनात्म) का विवेक जाग्रत होता है। वह समस्त नाम-रूप के मिथ्यात्व का निश्चय कर लेता है तथा सत् स्वरूप अपनी आत्मा का साक्षात्कार करता है। ऐसे विवेक से युक्त बुद्धि के द्वारा दिख जाता है कि समस्त नाम-रूपात्मक जगत के अधिष्ठानभूत परमात्मा हम ही हैं, जो सब को व्याप्त कर रहा है - इस तथ्य का भान होता है। ऐसी विवेक की दृष्टि को ही ज्ञानचक्षु कहा जाता है।

श्लोक – ६६

संगति :- पिछले श्लोक में देखा कि सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण चराचर जगत् में व्याप्त है। किन्तु वह मात्र ज्ञानचक्षु से ही देखे जा सकते हैं। जैसे प्रकाशित सूर्य को देखने के लिए हमारी चर्मचक्षु का होना आपेक्षित है। इस ज्ञानचक्षु को खोलने का तरीका आगे के श्लोक में आचार्य श्री बताते हैं।

श्रवणादिभिरुद्दीप्तं ज्ञानाग्निपरितापितः।
जीवस्सर्वमलान्-मुक्तः स्वर्णवद्द्योतते स्वयम्॥

अन्वयार्थ :- **जीवः** –जीव, **श्रवणादिभिः** – श्रवणादि से, **उद्दीप्तः** – प्रज्ज्वलित, **ज्ञानाग्नि–परितापितः** – ज्ञानाग्नि में तपता है, (वह) **सर्वमलान्** – सब प्रकार की मलिनताओं से, **मुक्तः** – मुक्त हो जाता है, और **स्वर्णवद्** – स्वर्ण की तरह, **स्वयम्** – स्वयं ही, **द्योतते** – प्रकाशित होता है।

श्लोकार्थ :- जब जीव अपने आपको श्रवणादि से प्रज्ज्वलित ज्ञानाग्नि में तपाता है, तो वह सब प्रकार की मलिनताओं से मुक्त हो जाता है और स्वर्ण की तरह अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकाशित हो उठता है।

व्याख्या :- जीव का बन्धन मात्र अज्ञानवशात् है, अतः मुक्ति किसी कर्म से नहीं, किन्तु ज्ञान से ही होती है। वेदान्त द्वारा प्रतिपादित ज्ञान श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु मुख से श्रवण करने से ही होता है। इसके लिए अपने स्वरूप को जानने के लिए शास्त्र श्रवण, मनन और निदिध्यासन को साधन रूप से बताते हैं।

श्रवण का अर्थ होता है कि अपनी समस्त मान्यताओं को किनारे करके खुले मन से श्रद्धापूर्वक गुरु मुख से शास्त्र के सिद्धान्त को सुन कर उसके तात्पर्य का निश्चय करना। जिस समय एक साधक खुले मन से श्रवण करता है तो गुरु और शास्त्र की दृष्टि से अपने आपको देख लेता है और उसके अज्ञान की निवृत्ति होकर ज्ञान की वृत्ति उत्पन्न होती है। वह अपने उपर किए समस्त अनात्मा के आरोपों की निवृत्ति करके सत्य स्वरूप का ज्ञान पा लेता है। जिस तथ्य को श्रवण काल में देखा है उसी तथ्य को स्पष्ट रूप से देख लेने के लिए मनन काल में विविध युक्तियों का आश्रय लेकर उस पर विचार करता है। जब समस्त सम्भावित संशयों की निवृत्ति हो जाती है तो वह ध्यान के आसन पर बैठ़कर श्रवण काल में उत्पन्न हुई स्वस्वरूप की वृत्ति को दृढ़ करने के लिए और विपरीत भावना को निवृत्त करने के लिए उसमें तीव्र भावना उत्पन्न करता है। (श्रवण में उत्पन्न हुए ज्ञान में तीव्र भावना करने को निदिध्यासन कहा जाता है। किन्तु बगैर ज्ञान के मात्र भावना जगाने को उपासना कहा जाता है।)

इस प्रकार एक जीव श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा अपने अन्दर विवेक की अग्नि को प्रज्ज्वलित करता है तो समस्त अज्ञान तथा तज्जनित मोह रूप संसार उसमें जल जाता है। तब अपने समस्त अज्ञानादि मलिनताओं से युक्त जीवभाव का निषेध होकर अज्ञान व माया से परे अपनी ब्रह्मस्वरूपता का साक्षात्कार कर उसमें स्थित हो जाता है।

श्लोक – ६७

संगति :– पिछले श्लोक में देखा कि जब जीव श्रवणादि के द्वारा अपने अन्दर विवेक की अग्नि को प्रज्ज्वलित करता हैं तो उनके अन्तर्गत के स्वरूप का अज्ञान व तज्जनित समस्त मोह नष्ट हो जाते हैं। अब आगे के श्लोक में आचार्य श्री ज्ञान की स्तुति करते हुए आत्मा की स्वप्रकाशस्वरूपता बताते हैं।

हृदाकाशोदितो ह्यात्मा बोधभानुस्तमोऽपहृत्।
सर्वव्यापी सर्वधारी भाति भासयतेऽखिलम्।।

अन्वयार्थ :– **हृदाकाश** – हृदयाकाश , **उदितः** – उदित, **बोध–भानुः** – ज्ञान का सूर्य, **आत्मा–तमो** – आत्मा का अज्ञान, (वह) **अपहृत** – नााश करता हैं, **सर्वव्यापी** – सर्वव्यापक, **सर्वधारी** – सब के आधारभूत तत्त्व, **भाति** – प्रकाशित होता हैं, **अखिलम्** – सब को, **भासयते** – प्रकाशित होता है।

श्लोकार्थ :– हृदयाकाश में उदित होने वाला ज्ञान का सूर्य आत्मा के अज्ञानरूप अन्धकर का नाश करता है, सर्वव्यापी तथा सर्वाधार–वह स्वयं प्रकाशित होता है तथा अखिल जगत को भी प्रकाशित करता है।

व्याख्या :– जीव के समस्त मोहजनित बन्धन उसके हृदय में स्थित अज्ञान के कारण ही है। हृदय का अर्थ होता है हमारे व्यक्तित्व का केन्द्रबिन्दु 'मैं'। जैसे शरीर के समस्त क्रियाओं का आश्रयस्थान हृदय होता है। वैसे ही हमारे व्यक्तित्व का केन्द्र 'मैं' है। इस 'मैं' के उपर ही स्वरूप के अज्ञान रूपा अन्धकार के कारण अनेकों मान्यताएं आरोपित की हैं। अतः पुरुषार्थ का स्वरूप ज्ञान के प्रकाश में इस 'मैं' को देखना है। जैसे अन्धकार में स्थित वस्तु को पाने के लिए प्रकाश के द्वारा अन्धकार समाप्त किया जाता है, तो वह पहले से ही विद्यमान वस्तु की उपलब्धि स्वतः हो जाती है। प्रकाश के द्वारा उस वस्तु को उत्पन्न नहीं किया जाता, किन्तु उसके उपर के आवरण मात्र को दूर किया जाता है।

हमारी समस्त मान्यताएं जगत के किसी न किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा परिस्थिति की सम्बन्ध में होती हैं। इन समस्त मान्यताओं का आधार 'मैं' है। हम ही समस्त मान्यताओं को 'मैं' वृत्ति से व्याप्त करते हैं। यह 'मैं' अर्थात् आत्मा अज्ञान से मानो कि आवरित सी है। हम अपने स्वरूप को नहीं जानते हैं, इसलिए 'मैं' के बारे में अनेकों विपरीत धारणाएं उत्पन्न की हैं। जिसकी वजह से हम अपने अस्तित्व, अपने सुख–दुःख आदि समस्त को अपने से पृथक् जगत पर आश्रित समझने लगते हैं। यह हमारे लिए बन्धनकारी है। जैसे जैसे हम ज्ञान के प्रकाश में अज्ञान से जनित धरणाओं पर विचार करते जाते हैं, वैसे वैसे इन धारणाओं की निवृत्ति होने लगती है। एवं इस हृदय में ज्ञान रूपा सूर्य का उदय होने पर ही अज्ञान रूप अन्धकार और उससे जनित धारणाओं की निवृत्ति हो जाती है। सब का आधारभूत 'मैं' तो स्वतःसिद्ध ही है। उसे जानने के लिए किसी अन्य प्रयास की अपेक्षा नहीं है।

आत्मा न केवल हमारी अपने उपर की हुई कल्पनाओं की किन्तु सबकी अधिष्ठानभूत है। यह समस्त दृश्य जगत् इस आत्मा के उपर ही कल्पित है। इस जगत को प्रकाशित होने के लिए 'मैं' की अपेक्षा है। यदि 'मैं' नहीं है तो इस जगत का हमारे लिए कोई अस्तित्व नहीं है अर्थात् हम इस जगत के आधार की तरह से हैं। समस्त जगदाकार वृत्ति अहंवृत्ति के आने के बाद ही होती है। अतः 'मैं' ही समस्त जगत का भी आधारभूत है। अपने बारे में यह निश्चय हमें समस्त पराधीनताओं से मुक्त करता है। क्योंकि जगत का होना हम पर आश्रित है।

हमारा अस्तित्व अन्य की वजह से नहीं है।

श्लोक - ६८

संगति :- आत्मबोध नामक इस ग्रंथ में आचार्यश्री ने बन्धन और मुक्ति का स्वरूप, मुक्ति के साधन रूप ज्ञान का स्वरूप, परं लक्ष्य रूप आत्मा का स्वरूप और उसे जानने की प्रक्रिया का विशद विवरण दिया। इसके उपरान्त ज्ञान की स्तुति और जीवन्मुक्ति का लक्षण बताया। अब इस ग्रंथ के अन्तिम श्लोक में आचार्यश्री ग्रंथ का उपसंहार करते हुए जीवनमुक्त का लक्षण और स्तुति करते हैं।

दिग्देशकालाद्यनपेक्ष्य सर्वगं
शीतादिहृन्नित्यसुखं निरंजनम्।
यस्स्वात्मतीर्थं भजते विनिष्क्रियः
स सर्ववित्सर्वगतोऽमृतो भवेत्॥

अन्वयार्थ :- **यः** - जो, **दिक्-देश-कालादि** - दिशा, देश और काल आदि, **अनपेक्ष्य** - आश्रित न होकर, **सर्वगं** - सर्वव्यापी, **शीतादिहृत्** - शीतादि को हरने वाला, **नित्यसुखं** - नित्य आनन्द स्वरूप, **निरंजनम्** - अज्ञान से रहित, **निष्क्रिय** - कर्मों से परे, **स्वात्मतीर्थम्** - आत्मा रूपी तीर्थ को, **भजते** - सेवन करता हैं, **सः** - वह, **सर्वगतः** - सर्वव्यापी, **अमृतो** - अमृत स्वरूप, **भवेत्** - हो जाता हैं।

श्लोकार्थ :- जो देश, काल और दिशा पर अवलम्बित न होकर सर्वव्यापक, शीतादि के हरने वाले समस्त कर्मों से परे, नित्य आत्मस्वरूप और निरंजन अपने आत्मा रूपी तीर्थ का सेवन करता है, वह सर्वज्ञ और सर्वव्यापक हो जाता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है।

व्याख्या :- जिसने अपने गुरु के श्री चरणों में बैठ़कर श्रवणादि साधनों का आश्रय लेकर ज्ञान के प्रसाद को पा लिया हैं, वह जीवन के रहते हुए ही अपने आपको मुक्त अनुभव कर लेता है। मुक्त होने का अभिप्राय समस्त उपाधि की परिच्छिन्नता के बावजूद भी अपने आपको पूर्ण स्वरूप जानना है।

हमारे इस शरीर से लेकर समस्त जगत में देश, काल आदि की सीमाएं है। इन सब को व्याप्त करने वाला जो तत्त्व है, वह देशादि की सीमाओं से परे सर्वव्यापी सब का अधिष्ठानभूत है। वह ही हमारी आत्मा अर्थात् अपना मूल स्वरूप है। इस समस्त सांसारिक/जागतिक दोषों से परे महानतम तत्त्व में जग जाने का मतलब ही समस्त तीर्थोंके पर्यवसान रूप अमृत स्वरूप तीर्थ को पाना है। यह तीर्थ किसी स्थान विशेष का या दिशादि सीमाओं के अन्तर्गत नहीं है। किन्तु इन सब से परे देशादि के अधिष्ठान रूप अपनी आत्मा ही है। बाकी सब तीर्थाटन तथा अन्य समस्त साधनाएं इस तीर्थ पर जाने की तैयारी रूपा होती है।

जो इस तीर्थ को पा गया हैं, वह ही मुक्ति रूप महान प्रसाद को प्राप्त कर लेता है। जब तक शरीर का प्रारब्ध है तब तक शरीरादि के स्तर पर शीतादि धर्मों का भी अनुभव भी होता है। परन्तु इसके बावजूद इस प्रसाद के फल स्वरूप स्वयं को समस्त देशादि से परे सर्वव्यपी तत्त्व रूप जानते हुए मुक्त अनुभव करता है। शरीर के द्वारा कर्म भी होते हैं, किन्तु

उन कर्म और कर्मफल से अप्रभावी रहता है। एवं वह मरणधर्मिता से रहित अमृतत्व को पा लेता है। यह तीर्थयात्रा देशादि धर्मों से प्रभावित मरणधर्मा जीवभाव से आरम्भ हुई और इस आत्मतीर्थ में इस यात्रा का पर्यवसान हुआ।

॥ इति श्रीमत् शंकराचार्य विरचितं आत्मबोध सम्पूर्णम् ॥